|| श्रीमद्भगवद्गीता विवेचन सारांश ||

अध्याय 15: पुरुषोत्तमयोग

2/2 (श्लोक 8-20), शनिवार, 17 जनवरी 2026

विवेचक: गीता विशारद डॉ. संजय जी मालपाणी

यूट्यूब लिंक: https://youtu.be/_uSVRVmZtgs

प्रकृति, पुरुष और पुरुषोत्तम

प्रार्थना, देशभक्ति गीत, श्रीहनुमान चालीसा पाठ एवं दीप प्रज्वलन की परम्परा के साथ विवेचन सत्र का प्रारम्भ हुआ। इस विवेचन के अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीता जी के पञ्चदश अध्याय, जिसे **'पुरुषोत्तम योग'** के रूप में सञ्ज्ञापित किया जाता है, का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया।

सत्र का शुभारम्भ साधकों के पारस्परिक अभिवादन एवं गुरु वन्दना के साथ सम्पन्न हुआ। आदिगुरु श्रीभगवान् महादेव से आरम्भ होकर योगेश्वर श्रीकृष्ण, आदि शङ्कराचार्य एवं समस्त सद्गुरुओं से होते हुए परम श्रद्धेय स्वामी श्री गोविन्ददेव गिरि जी महाराज तक की गुरु-परम्परा के प्रति श्रद्धा पूर्वक प्रणाम ज्ञापित किया गया-

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

श्रीमद्भगवद्गीता का पञ्चदश अध्याय 'पुरुषोत्तमयोग' है। श्रीभगवान् द्वारा इस अध्याय को **'गुह्यतम'** घोषित करते हुए अर्जुन के सम्मुख जो गूढ़ रहस्य उद्घाटित किए गए, उनके लिए अर्जुन के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना उचित है। अर्जुन की जिज्ञासा एवं प्रश्नों के माध्यम से ही यह परम गुह्यतम ज्ञान समस्त मानवता हेतु उपलब्ध हो सका। विगत सप्ताह प्रथम श्लोक से सातवें श्लोक तक का विवेचन सम्पादित किया गया था। आज के विवेचन का आरम्भ अष्टम श्लोक से किया गया।

15.8

शरीरं(यँ) यदवाप्नोति, यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति, वायुर्गन्धानिवाशयात्॥15.8॥

जैसे वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को (ग्रहण करके ले जाती है), ऐसे ही शरीरादि का स्वामी बना हुआ जीवात्मा भी जिस शरीर को छोड़ता है, (वहाँ से) इन (मन सहित इन्द्रियों) को ग्रहण करके फिर जिस (शरीर) को प्राप्त होता है, (उसमें) चला जाता है।

विवेचन- श्रीभगवान् ने इस श्लोक में अत्यन्त सुन्दर बातें कही हैं। **"वायुर्गन्धानिवाशयात्"** अर्थात् जिस प्रकार वायु गन्ध के स्थान से

गन्ध को ग्रहण कर ले जाती है, उसी प्रकार "**ईश्वरः अपि यत्**"—देहादि का स्वामी जीवात्मा, "**उत्क्रामति**" अर्थात् देह का त्याग कर निकल जाता है।

प्रश्न- आत्मा के इस प्रकार देह त्यागने से क्या होता है?

उत्तर- श्रीभगवान् कहते हैं—"**एतानि गृहीत्वा च यत् शरीरं अवाप्नोति संयाति**"**-** यह आत्मा मन सहित इन्द्रियों को ग्रहण करके जिस शरीर को प्राप्त होता है, उसी में चला जाता है।

"जो ब्रह्माण्ड में है, वह सारा इस पिण्ड में है।"

यह अद्भुत है कि जीवन के अन्तिम क्षणों तक भी मनुष्य की आशाएँ समाप्त नहीं होतीं और वृद्धावस्था में भी वह "कुछ नवीन करें, इसी चिन्तन में संलग्न रहता है।

आदि शङ्कराचार्य जी ने इसी प्रकार एक वृद्ध व्यक्ति को व्याकरण शास्त्र का अनुशीलन करते हुए अवलोकित किया। वह व्याकरण की एक पङ्क्ति को कण्ठस्थ करने का प्रयत्न कर रहा था।

वह पङ्क्ति थी— '**डुकृञ्करणे, डुकृञ्करणे**'। वह निरन्तर इस सूत्र का सस्वर पाठ कर रहा था। यह व्याकरण का एक पारिभाषिक सूत्र है।

आदि शङ्कराचार्य जी ने जब देखा कि वह व्यक्ति मरणासन्न अवस्था में है, उसकी आयु नब्बे (90) वर्ष से अधिक हो चुकी है और मृत्यु समीप है; इसके उपरान्त भी वह व्याकरण के कण्ठस्थीकरण में संलग्न है, तो उन्होंने इसके प्रयोजन पर गम्भीर विचार किया।

जिसके पश्चात् उन्होंने एक अतीव मनोहर स्तोत्र की रचना की, जिसे '**चर्पटपञ्जरिका स्तोत्र**' के रूप में सञ्ज्ञापित किया गया है। उसमें उन्होंने उल्लेख किया-

भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढमते।
सम्प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ्करणे॥
(चर्पटपञ्जरिका स्तोत्र/भज गोविन्दम्, ।।1।।)

मृत्यु के इतना समीप पहुँचने पर केवल मुरारी की चर्चा करनी चाहिए। श्रीकृष्ण का ध्यान करना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता जी का पठन करना चाहिए और इस आयु में '**डुकृञ्करणे**' व्याकरण का अध्ययन करना उचित नहीं है।

'**नहि नहि रक्षति डुकृञ्करणे**'— इससे रक्षण सम्भव नहीं है।

- **मन का विमुक्त होना अत्यन्त आवश्यक-**

पुनर्जन्म की अपरिहार्यता बनी रहती है, क्योंकि अन्तिम श्वास के समय यदि मन में कोई अभीप्सा अवशिष्ट (इच्छा शेष) रह जाए तो वह मन विमुक्त नहीं होता। वह मन जीवात्मा से संलग्न होकर उसे गति प्रदान करता है। यदि मन के अन्तराल में सुप्त कामनाएँ पूर्ण नहीं होतीं और मन असन्तुष्ट रहता है तो वह अतृप्त मन सन्तोष का आश्रय अन्वेषण (ढूँढता) करता है और ऐसे गर्भ की खोज करता है, जहाँ आगामी जन्म में उसकी ये आकांक्षाएँ पूर्ण हो सकें।

मृत्यु के समय सन्तोष का भाव अत्यन्त अनिवार्य है, किन्तु मानवीय अहङ्कार बहुत सघन होता है। एक गणितीय सूत्र के माध्यम से इसे स्पष्ट किया जाता है— A must be greater than E (A > E) — यहाँ 'A' का अभिप्राय स्वीकार-भाव (Acceptance) है और 'E' का अर्थ अहङ्कार (Ego) है।

हमारा स्वीकार-भाव, अहङ्कार से उत्कृष्ट होना चाहिए, यह भाव रखते हुए कि "यह परिस्थिति स्वीकार्य है; इससे व्यथित अथवा दुःखी होने का कोई प्रयोजन नहीं है।" अपने समस्त दुःखों को पृथक् रखना श्रेयस्कर है। इसी कारण श्रीभगवान् द्वादश अध्याय में भी बारम्बार उद्घोषित करते हैं-

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। (श्रीमद्भगवद्गीता, ।।2.38।।)

यह तत्त्व श्रीमद्भगवद्गीता जी के द्वादश अध्याय में भिन्न रीति से प्रतिपादित किया गया है। अन्यत्र (अन्य स्थानों पर) भी यह निर्देशित है कि साधक को सुख-दुःख तथा निन्दा-स्तुति में समत्व भाव धारण करना चाहिए।

यहाँ **यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि निन्दा और स्तुति जैसी परस्पर विरोधी अवस्थाओं में साम्यता कैसे स्थापित की जाए**?

यद्यपि स्तुति बाह्य जगत की घटना है, तथापि इसका प्रभाव अन्तःकरण की गहराइयों तक प्रविष्ट हो जाता है। जब कोई व्यक्ति सम्मान स्वरूप माला अर्पण करता है, पदक या पुरस्कार प्रदान करता है, साफा (पगड़ी) बाँधता है, शॉल ओढ़ाता है अथवा करतल ध्वनि के साथ प्रशंसा करता है, तो मनुष्य प्रायः आत्ममुग्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का अहङ्कार सघन होता जाता है, जो आध्यात्मिक मार्ग में बाधक है। अतः इन बाह्य प्रलोभनों के मध्य भी निर्विकार बने रहना ही वास्तविक सिद्धि है।

- **अहङ्कार और मन की अशुद्धियाँ-**

परिचय के विस्तार से बचने का आग्रह किया जाता है, क्योंकि आत्म-परिचय प्रायः अहङ्कार की वृद्धि का कारक बन जाता है। अपने द्वारा किए गए कार्यों का वर्णन मन में श्रेष्ठता का भाव जाग्रत करता है, जिससे अहङ्कार के पुष्ट होने में विलम्ब नहीं लगता। इसी कारण, जब साधक द्वितीय स्तर (आगामी सोपान) में प्रवेश करता है, तब वहाँ वर्णित छब्बीस दैवीय सम्पदाओं में अन्तिम गुण-सम्पदा के रूप में **'नातिमानिता'** (अति मान का अभाव) का उल्लेख किया गया है।

अहङ्कार एक ऐसा अदृश्य शत्रु है जो अप्रत्यक्ष मार्ग से अन्तःकरण में प्रविष्ट होता है। 'नातिमानिता' का गुण ही उस अहङ्कार को पीछे से धकेल कर दूर रखने का कार्य करता है। मनुष्य को प्रायः अपने श्रेष्ठत्व, पद, रूप, गुण एवं धन का अहङ्कार होता है; इन समस्त विकारों से सुरक्षित रहना नितान्त आवश्यक है। अन्यथा, अहङ्कार से आपूरित (पूर्ण) मन प्रशंसा का अभ्यस्त हो जाता है और वह सदैव इसी प्रतीक्षा में रहता है कि लोग उसके लिए करतल ध्वनि करें, उसे प्रणाम करें अथवा उसके सम्मुख नतमस्तक हों। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का सम्पूर्ण आचरण केवल इन्हीं बाह्य प्रदर्शनों की प्राप्ति हेतु केन्द्रित हो जाता है।

- **उलटी बात और मिथ्या ख्याति-**

एक व्यक्ति इसी प्रकार एक गुरु के पास पहुँच गया और प्रश्न करने लगा, "लोग तो मुझे पूछते ही नहीं। पूजना तो बहुत दूर की बात है, पूछते भी नहीं। ऐसा कुछ बताइए कि लोग मुझे पूछें और पूजें।" तब गुरुजी ने कहा, "इसका तो एक ही उपचार है, जो भी बात होगी, उसका विपरीत कहना आरम्भ कर दो तो लोगों को लगेगा कि तुम महान् ज्ञानी हो।"

उसने बात समझ ली और जब कोई कहे कि "भाई, देखिए कितना सुन्दर सूर्योदय हो रहा है", तो यह व्यक्ति तुरन्त कहता कि "पागल हो गए हो? वह तो आग का गोला है। किस बात का सुन्दर, निकट जा भी नहीं पाओगे। यह सुन्दर नहीं, यह तो आग है, आग।"

कोई कहे, "देखिए कितना प्यारा छोटा बच्चा है" तो यह व्यक्ति कहता, "अरे क्या? नश्वर है, अस्थि-मांस का गोला है। इसे क्या सुन्दर कहते हो, यह तो एक दिन चला जाएगा।"

वह सारी बातें विपरीत कहता। लोगों को लगने लगा, "देखिए, हम तो कुछ विचार करते हैं, परन्तु यह तो बिल्कुल अलग विचार करता है, बड़ा अद्भुत!" लोग उसके पीछे-पीछे चलने लगे, लोग मालाएँ पहनाने लगे, उसकी ख्याति चारों ओर फैल गई। लोग पीछे-पीछे चल रहे थे। एक-दो वर्ष बाद वह अपने गुरुजी के पास वापस आया तो उसके पीछे एक सौ-दो सौ लोग, उसके चेले, उसकी जय-जयकार करते हुए चल रहे थे। यह प्रवृत्ति समय के साथ विकसित होती गई और अहङ्कार पुष्ट होता चला गया।

- **अहङ्कार और दैवी गुण-**

यह विदित है कि अहङ्कार समस्त सद्गुणों का विनाश कर देता है। दैवी गुण-सम्पदाओं की कितनी भी विशाल नौका क्यों न हो, यदि उसमें अहङ्कार रूपी एक लघु छिद्र भी हो जाए तो वह नौका को डुबोने के लिए पर्याप्त है। जिस प्रकार एक कील नौका के अस्तित्व को सङ्कट में डाल देती है, उसी प्रकार अहङ्कार रूपी कील दैवी गुणों के सञ्चय को विनष्ट कर देती है।

यदि मृत्यु के क्षण मन असन्तुष्ट रहे तो वह गम्भीर समस्या का हेतु बनता है। देह से जीवात्मा के निष्क्रमण (गमन) के समय शारीरिक वेदना स्वाभाविक है। यदि हम इस शारीरिक पीड़ा को सहन करने में अक्षम रहे और अन्तिम क्षणों में भी केवल देह के ही चिन्तन में संलग्न रहे तो सद्गति असम्भव है, इसलिए सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करने का परामर्श दिया जाता है। शरीर को अत्यधिक सुख-सुविधाओं (लाड़-प्यार) का अभ्यस्त नहीं बनाना चाहिए; अपितु अल्प पीड़ा को सहन करने का अभ्यास करना चाहिए।

हमारी परम्परा में वृद्ध महिलाएँ अनुशासित करती थीं कि "प्रसव काल में धैर्य रखें और पीड़ा सहन करें; त्वरित शल्य-क्रिया (**Caesarean)** का आश्रय न लें," किन्तु वर्तमान समय में सहनशीलता का पूर्णतः अभाव हो गया है। यदि हम सामान्य शारीरिक कष्ट सहन नहीं कर सकते तो मृत्यु की दारुण पीड़ा को कैसे सहन करेंगे? ऐसी स्थिति में व्यक्ति केवल क्रन्दन करेगा और उसका मन शोक से आपूरित रहेगा। यदि अन्तिम समय में मन दुःखी रहा तो वह पुनः सुख की खोज में आत्मा से संलग्न होकर उसे ऐसी गति प्रदान करेगा, जहाँ उसे शारीरिक सुखों की पूर्ति हेतु पुनः नवीन गर्भ (जन्म) प्राप्त करना पड़ेगा।

- **श्रीमद्भगवद्गीता का सन्दर्भ-**

इसी सन्दर्भ में श्रीभगवान् प्रतिपादित करते हैं कि जिस प्रकार वायु पुष्प के भीतर स्थित गन्ध को अपने साथ ग्रहण कर ले जाती है— **"वायुर्गन्धानिवाशयात्"** (15.8)— उसी प्रकार यह मन जीवात्मा को अपने साथ लेकर आगामी यात्रा पर अग्रसर होता है। यदि मन वासनाओं और आसक्तियों से विमुक्त नहीं होता तो वह जीवात्मा की मुक्ति के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति अत्यन्त दुरूह (दुर्लभ) हो जाती है।

- **मन की शुद्धि और षड्रिपु-**

प्रकृति और पुरुष के संयोग से निर्मित इस देह के विषय में श्रीभगवान् ने अतीव विलक्षण तथ्य उद्घाटित किए हैं। जिस प्रकार स्वर्ण का वही अलङ्कार सर्वाधिक मूल्यवान एवं श्रेष्ठ माना जाता है, जिसमें अशुद्धियों का पूर्णतः अभाव हो, उसी प्रकार वही देह और मन आध्यात्मिक दृष्टि से अमूल्य हैं, जो अशुद्धियों से रहित हों। ये अशुद्धियाँ 'षड्रिपु' (छह आन्तरिक शत्रुओं) के रूप में जानी जाती हैं-

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मत्सर

यदि अन्तःकरण में मत्सर (ईर्ष्या) का लेशमात्र भाव भी शेष रह जाए, तो वह साधक की आध्यात्मिक अवनति का कारण बनता है, अतः शत्रुत्व के भाव से रहित होकर, जब सन्ध्या काल में दीप प्रज्वलन किया जाता है, तब मङ्गलमयी प्रार्थना इस प्रकार की जाती है-

शुभं करोति कल्याणम् आरोग्यं धनसम्पदाम्।
शत्रुबुद्धिविनाशाय दीपज्योतिर्नमोऽस्तुते।।

इसीलिए सन्ध्या दीप प्रज्वलन के समय हम 'शत्रुविनाशाय' नहीं, अपितु **'शत्रुबुद्धि विनाशाय'** की प्रार्थना करते हैं। शत्रु का भौतिक विनाश मनुष्य के अधिकार क्षेत्र में नहीं है; यथा— दुर्योधन एवं दुःशासन का विनाश नियति ने पूर्व निर्धारित कर रखा था, किन्तु अपने अन्तःकरण से शत्रुता के भाव का उन्मूलन करना पूर्णतः हमारे नियन्त्रण में है। हमारी बुद्धि उस विद्वेष से मुक्त रहे, यही वास्तविक साधना है।

यह सुनिश्चित है कि यदि किसी व्यक्ति को देखकर आपके भीतर चिढ़ अथवा शत्रुता का भाव जाग्रत होता है तो वह आपकी आध्यात्मिक सद्गति में बाधक सिद्ध होगा, अतः किसी के प्रति वैर भाव न रखें। वैचारिक 'मतभेद' होना स्वाभाविक है, किन्तु उसे 'मनभेद' में परिवर्तित न होने दें। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि हम अपने विचारों को अभिव्यक्त न करें अथवा अन्याय सहन करें; अपितु अपनी बात को संयत एवं मर्यादित स्वर में कहना श्रेयस्कर है। वैचारिक विरोध का अर्थ शत्रुता नहीं है; वह केवल भिन्न दृष्टिकोण का प्रस्तुतीकरण है। मत-खण्डन हेतु तर्क का आश्रय लें, क्रोध अथवा चिड़चिड़ेपन का नहीं।

जब हृदय में 'निर्वैरता' का भाव प्रतिष्ठित हो जाता है और शत्रुता का स्पर्श भी शेष नहीं रहता, तभी मन वास्तव में विमुक्त होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मत्सर जैसे विकारों से पृथक् रहने हेतु निरन्तर अभ्यास अनिवार्य है।

"अभ्यासेन तु कौन्तेय"— निरन्तर साधना से ही यह पूर्णता सम्भव है ("Practice makes a man perfect"।

जिस प्रकार स्वर्ण की शुद्धता (कैरट) उसके मूल्य का निर्धारण करती है, उसी प्रकार आपके मन की विशुद्धि ही आपके जीवन का वास्तविक मूल्य निश्चित करती है। सन्तों का जीवन इस तथ्य का प्रमाण है कि पूर्णतः विमुक्त मन ही सन्तत्व की पराकाष्ठा है। वे समस्त आशाओं एवं अपेक्षाओं से ऊपर उठ जाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के द्वादश अध्याय का स्मरण करें—

"अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः" (श्रीमद्भगवद्गीता,12.16)

जिस क्षण आप अपेक्षाओं के बन्धन से मुक्त होते हैं, उसी क्षण शान्ति एवं विमुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

अपेक्षा ही समस्त पीड़ा एवं शोक का मूल कारण है। यदि मन अपेक्षाओं से रहित हो और उस स्थिति में हमें कोई सेवा प्राप्त हो जाए तो वह अतीव प्रसन्नता का हेतु बनती है। इसी कारण शास्त्रों में **'अनपेक्ष'** होने का निर्देश दिया गया है।

- **अपेक्षा, वैराग्य और जीवन के चार आश्रम-**

साधक को उन व्यथाओं एवं स्मृतियों से मुक्त होना चाहिए जो प्रतिशोध की भावना जाग्रत करती हैं, यथा— "अमुक व्यक्ति ने मेरे साथ अनुचित व्यवहार किया था, मैं भी उसका उत्तर दूँगा।" ऐसी भावनाएँ आध्यात्मिक प्रगति एवं सद्गति में बाधक हैं। अतः इन बाधा उत्पन्न करने वाले विचारों से स्वयं को मुक्त करना अनिवार्य है, विशेषकर मृत्यु के समय। अन्यथा, अन्तिम क्षणों में भी यदि 'तिजोरी की कुञ्जी' जैसी साम्पत्तिक वस्तुओं का स्मरण रहा, तो वह अधोगति का कारण बनेगा।

- **जीवन के चार आश्रमों की व्यवस्था-**

भारतीय संस्कृति में आयु को चार आश्रमों में सुनियोजित रूप से विभाजित किया गया है, ताकि मनुष्य क्रमशः सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो सके।

1. **ब्रह्मचर्य आश्रम (जन्म से 25 वर्ष)-** इस काल में संयमपूर्वक विद्यार्जन एवं ज्ञानार्जन करना चाहिए।
2. **गृहस्थ आश्रम (25 से 50 वर्ष)-** इस अवधि में पुरुषार्थ के साथ पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्वों का निर्वहन करना चाहिए।
3. **वानप्रस्थ आश्रम (50 से 75 वर्ष)-** इस अवस्था में गृह में रहते हुए भी दृष्टि 'वन' (ईश्वर) की ओर उन्मुख हो जानी चाहिए। यह अनासक्ति के अभ्यास का समय है। यदि सन्तति परामर्श माँगे, तभी मार्ग-दर्शन करें; बिन माँगे ज्ञान देना क्लेश का कारण बनता है क्योंकि अनचाहा उपदेश कोई ग्रहण नहीं करना चाहता।
5. **संन्यास आश्रम (75 वर्ष के उपरान्त)-** जब पौत्र-पौत्रियाँ अपनी शिक्षा पूर्ण कर उत्तरदायित्व सँभालने योग्य हो जाएँ, तब पूर्णतः निवृत्त होकर ईश्वरोन्मुख हो जाना चाहिए।

इस चतुराश्रम व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य यही है कि हम शनैः-शनैः निवृत्ति की ओर बढ़ें और हमारा अधिकतम समय भगवद्-चिन्तन एवं आध्यात्मिक साधना में व्यतीत हो।

15.9

श्रोत्रं(ञ्) चक्षुः(स्) स्पर्शनं(ञ्) च, रसनं(ङ्) घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं(व्ँ), विषयानुपसेवते॥15.9॥

यह (जीवात्मा) मन का आश्रय लेकर ही श्रोत्र और नेत्र तथा त्वचा, रसना और घ्राण –(इन पाँचों इन्द्रियों के द्वारा) विषयों का सेवन करता है।

श्रीभगवान् प्रतिपादित करते हैं कि जीवात्मा के अनुभव के मुख्य आधार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं-

1. **"श्रोत्र:"-** कर्ण (श्रवण का विषय)
2. **"चक्षु:"**- नेत्र (दर्शन का विषय)
3. **"स्पर्शन:" -** त्वचा (स्पर्श का विषय)
4. **"रसना"-** जिह्वा (रसास्वादन का विषय)
5. **"घ्राण:" -**नासिका (गन्ध ग्रहण का विषय)

- **मन-इन्द्रियों का अधिष्ठाता-**

ये पञ्चेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं, किन्तु इनका अधिष्ठाता मन है— **"अधिष्ठाय मनश्चायं"**। मन के अन्तराल में उदित होने वाले समस्त विचारों एवं कामनाओं की सम्पूर्ति हेतु मन इन इन्द्रियों को माध्यम बनाकर विषयों का उपभोग करता है— **"विषयानुपसेवते"**। जीवात्मा इन छह इन्द्रियों (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं छठा मन) के माध्यम से ही संसार के विषयों का अनुभव करती है।

"मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति" (15.7)

इसका मूल कारण यह है कि इस भौतिक देह में जीवात्मा का अपना प्रभुत्व नहीं चलता, अपितु प्रकृति का नियन्त्रण प्रभावी रहता है।

- **प्रकृति और पुरुष (आत्मा) का सम्बन्ध-**

जिस प्रकार गृह के आन्तरिक प्रबन्धन में स्त्रियों का वर्चस्व रहता है और पुरुष प्रायः गौण भूमिका में रहते हैं; उसी प्रकार इस शरीर रूपी सदन में प्रकृति का शासन चलता है। पुरुष (आत्मा) मौन रहकर केवल अनुगमन करता है; उसे प्रकृति की इच्छाओं के अनुरूप विवश होकर चलना पड़ता है।

इसे एक लौकिक उदाहरण से समझा जा सकता है। संसार में पति-पत्नी परस्पर सामञ्जस्य स्थापित कर सुखद जीवन का प्रयास करते हैं। कदाचित् पति की अभिरुचि वस्त्रों के चयन (यथा— साड़ी की क्रय प्रक्रिया) में न हो, फिर भी उसे पत्नी के साथ जाना पड़ता है क्योंकि भुगतान का दायित्व उसी का है। दुकान में बैठकर वह साड़ियों के रङ्गों या कलाकृतियों में कोई रुचि नहीं लेता। पत्नी के बारम्बार पूछने पर कि— "यह मुझ पर कैसी लग रही है?", वह केवल शिष्टाचार वश "अतीव सुन्दर" कह देता है, जबकि उसका ध्यान बाह्य जगत में होता है, परन्तु वहाँ उपस्थित रहना उसकी विवशता है। इसी प्रकार, प्रकृति प्रदत्त इस देह में जीवात्मा को अनिवार्य रूप से निवास करना पड़ता है और शरीर की प्रवृत्तियों के साथ चलना पड़ता है।

- **विवशता और आत्मज्ञान-**

सम्बन्धों के निर्वाह हेतु जिस प्रकार एक सहचारी दूसरे की अभिरुचि का ध्यान रखता है— चाहे वह अरुचिकर चलचित्र देखना हो अथवा नापसन्द करेले की शाक (सब्जी) का सेवन करना, केवल इसलिए ताकि गृह का वातावरण प्रसन्न रहे, वह मिथ्या प्रशंसा भी करता है। ठीक इसी प्रकार, जीवात्मा को शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित करना पड़ता है। जब तक वह देह में स्थित है, उसे प्रकृति के विधानों का अनुसरण करना ही पड़ता है। जीवात्मा मूलतः केवल 'साक्षी' है, जो मात्र अवलोकन करती है; उसकी इन क्रियाओं में कोई सक्रिय भागीदारी अथवा निजी मत नहीं होता।

अतः हमारे मन में उदित होने वाले विचारों को श्रीभगवान् द्वारा प्रेरित नहीं मानना चाहिए। वह आपकी बुद्धि का परिणाम है, जो प्रकृति से प्राप्त हुई है। कुकर्म करने वाले व्यक्ति प्रायः यह तर्क देते हैं कि— "ईश्वर ने इच्छा जाग्रत की, अतः मैंने यह कार्य किया।" सत्य यह है कि परमात्मा अथवा आत्मा की इसमें कोई सहभागिता नहीं होती। प्रकृति से प्राप्त मन और बुद्धि ही समस्त कर्म करवाते हैं। इस तात्त्विक सत्य को समझने हेतु श्रीभगवान् 'विवेक' की अनिवार्यता पर बल देते हैं।

15.10

उत्क्रामन्तं(म्) स्थितं(व्ँ) वापि, भुञ्जानं(व्ँ) वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति, पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥15.10॥

शरीर को छोड़कर जाते हुए या दूसरे शरीर में स्थित हुए अथवा विषयों को भोगते हुए भी गुणों से युक्त (जीवात्मा के स्वरूप) को मूढ़ मनुष्य नहीं जानते, ज्ञानरूपी नेत्रोंवाले (ज्ञानी मनुष्य ही) जानते हैं

15.11

यतन्तो योगिनश्चैनं(म्), पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो,नैनं(म्) पश्यन्त्यचेतसः।।11।।

यत्न करने वाले योगी लोग अपने आप में स्थित इस परमात्म तत्त्व का अनुभव करते हैं। परन्तु जिन्होंने अपना अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया है, (ऐसे) अविवेकी मनुष्य यत्न करने पर भी इस तत्त्व का अनुभव नहीं करते।

विवेचन- श्रीभगवान् इन दो अतीव सुन्दर श्लोकों के माध्यम से प्रतिपादित करते हैं— **"उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्"** अर्थात् शरीर का त्याग कर प्रस्थान करते हुए (उत्क्रमण), शरीर में स्थित रहते हुए अथवा इन्द्रियों के विषयों का भोग करते हुए, जीवात्मा जब सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणों से युक्त होती है, तब भी अज्ञानी जन (**विमूढाः**) उसे देख नहीं पाते (**नानुपश्यन्ति**)। ऐसे अविवेकी पुरुषों को यह बोध ही नहीं होता कि किस प्रकार मन क्रियाशील है और वह आत्मा से संलग्न होकर उसकी गति निर्धारित कर रहा है।

- **ज्ञानचक्षु और अन्तःकरण की शुद्धि-**

यहाँ प्रश्न उठता है कि इस गूढ़ तत्त्व को देखने में कौन सक्षम है? श्रीभगवान् उत्तर देते हैं— **"ज्ञानचक्षुषः पश्यन्ति"**। यह सत्य इन चर्म-चक्षुओं (भौतिक नेत्रों) से दृश्य नहीं है; इसे केवल ज्ञान रूपी नेत्रों से ही देखा जा सकता है। इन ज्ञानचक्षुओं को जागृत करने का पावन कार्य श्रीमद्भगवद्गीता जी करती है।

अगले श्लोक में श्रीभगवान् स्पष्ट करते हैं कि निरन्तर प्रयत्नशील योगीजन ही अपने हृदय में स्थित इस आत्मा को तात्त्विक रूप से जान पाते हैं। इसके विपरीत, जिन्होंने अपने अन्तःकरण को शुद्ध नहीं किया है (**अकृतात्मानः**), ऐसे अज्ञानी जन हजारों यत्न करने के उपरान्त भी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान पाते।

जिनका अन्तःकरण पापों एवं विकारों से कलुषित है, वे अज्ञानी ही रहते हैं। ऐसे '**अचेतस**' (चेतना शून्य) लोग आध्यात्मिक सत्यों को निरर्थक मानकर उपहास करते हैं। उनके पास कुतर्कों का भण्डार होता है; वे सत्य को जानना ही नहीं चाहते और स्वेच्छाचारी जीवन व्यतीत करते हुए अपने इहलोक (वर्तमान जीवन) तथा परलोक दोनों को विनष्ट कर लेते हैं।

इहलोक का पतन केवल मृत्यु के पश्चात नहीं, अपितु इसी जीवन में कष्टों के रूप में परिलक्षित होता है। जो व्यक्ति निरन्तर क्रोध और अहङ्कार के वशीभूत रहते हैं, वे धीरे-धीरे मानसिक तनाव (Stress) और मधुमेह (Diabetes) जैसी व्याधियों से ग्रसित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के सम्मुख कोई स्वादिष्ट आमरस का भोग कर रहा हो और वह व्यक्ति अपनी व्याधि के कारण केवल मूकदर्शक बना रहे, तो इससे भयावह नरक और क्या हो सकता है? यह शारीरिक कष्ट वास्तव में उसके मानसिक विक्षोभ का ही प्रतिफल है।

- **योगशास्त्र और संयम-**

अज्ञानी व्यक्ति अपने क्रोध पर नियन्त्रण नहीं करता और न ही अपनी भावनाओं को संयमित करता है। वह अपनी ज्ञानेन्द्रियों—जिह्वा, नेत्र एवं कर्ण—को उनके विषयों से निवृत्त करने का प्रयास नहीं करता। जो व्यक्ति संयम का आश्रय नहीं लेता और यम-नियम के योग मार्ग का अनुसरण नहीं करता, उसकी इहलोक और परलोक दोनों में दुर्गति होना सुनिश्चित है।

इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता जी '**योगशास्त्र**' कहलाता है। जब बारहवें अध्याय की पुष्पिका पढ़ते हैं, तब उसमें लिखा है— '**ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे...**'। यह योगशास्त्र है।
योग के दो पक्ष हैं-

1. **बहिरङ्ग योग-** जो आसन और प्राणायाम के माध्यम से शरीर के स्तर पर परिलक्षित होता है।
2. **अन्तरङ्ग योग-** जो मन के भीतर 'समत्व' भाव के रूप में स्थित होता है और बाहर से दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रत्याहार का सूक्ष्म पक्ष, धारणा, ध्यान एवं समाधि—ये सभी अन्तरङ्ग योग के घटक हैं,
इसलिए प्रत्याहार का कुछ भाग, फिर धारणा, ध्यान, समाधि—ये सब अन्तरङ्ग योग के घटक हैं। **वस्तुतः श्रीमद्भगवद्गीता बहिरङ्ग से अन्तरङ्ग की ओर ले जाने वाला एक बहुत सुन्दर शास्त्र है, योगशास्त्र है**।

इसमें कहीं पर भी 'हिन्दू' नाम नहीं लिखा हुआ कि यह केवल हिन्दुओं का है। नहीं, यह मानव मात्र के लिए है, विश्व के लिए है। यह किसी विशिष्ट सम्प्रदाय तक सीमित नहीं है, अपितु सम्पूर्ण मानवता और विश्व-कल्याण के प्रति समर्पित ग्रन्थ है। इस भाव से, इसको देखना चाहिए कि यह योग का शास्त्र है।

किन्तु अज्ञानी जन इसके गौरव को नहीं समझ पाते— **"अचेतसः यतन्तोऽप्येमं न पश्यन्ति"**।। **'पश्यन्ति'** अर्थात् देखना, **'न पश्यन्ति'** अर्थात् नहीं देखना। वे नहीं देख पाते। जो सो गया उसको तो जगा सकते हैं, परन्तु सोने का नाटक यदि कोई कर रहा है तो उसको जगाना असम्भव होता है।

- **जागृति का सन्देश-**

श्रीमद्भगवद्गीता जी का मूल मन्त्र है— **"पलायन नहीं, जागरण!"** '। अर्जुन भागने को उद्यत थे। अर्जुन कह रहे थे— **"न काङ्क्षे विजयं कृष्ण"**—मुझे विजय नहीं चाहिए, हे कृष्ण! विजय नहीं चाहिए। **"न च राज्यं सुखानि च"**—मुझे न राज्य चाहिए, न सुख चाहिए। **"किन्नो राज्येन गोविन्द"**—ऐसा राज्य लेकर क्या करूँगा? **"किं भोगैर्जीवितेन वा"**—ऐसे भोग क्यों भोगूँ? जीवित रह कर भी क्या लाभ? मैं मर ही जाता हूँ, आत्महत्या कर लेता हूँ। मैं चला जाता हूँ, मैं यहाँ से भाग जाता हूँ।

श्रीभगवान् ने उसको युद्धभूमि में रोक कर रखा। उन्होंने कहा—

"युद्ध तो करना पड़ेगा, परन्तु सोकर नहीं। अन्तरात्मा को जगाओ और कर्त्तव्य के भाव से युद्ध करो।"

“निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव” (11.55)

अर्थात् समस्त प्राणियों के प्रति वैर-भाव से रहित होकर युद्ध करो। तुम्हारे अन्तःकरण में किसी के प्रति वैमनस्य न हो।

तत्पश्चात श्रीभगवान् ने अपनी पुरुषोत्तम स्वरूप की व्याप्ति का वर्णन किया। वह आदिपुरुष, जो स्वयं प्रकाशित है और जिससे सूर्य एवं चन्द्रमा भी अपनी दीप्ति प्राप्त करते हैं।

15.12

यदादित्यगतं(न्) तेजो, जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ,तत्तेजो विद्धि मामकम्।।12।।

सूर्य को प्राप्त हुआ जो तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है (और) जो तेज चन्द्रमा में है तथा जो तेज अग्नि में है, उस तेज को मेरा ही जान।

विवेचन- जिस प्रकार सूर्य इस पृथ्वी हेतु ऊर्जा का मूल स्वरूप है, उसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की ऊर्जा का जो अक्षय स्रोत है, वह 'परमात्म तत्त्व' है। यह अतीव स्वाभाविक एवं तर्कसङ्गत है।

- **कार्य, कारण और ईश्वर का अस्तित्व-**

यदि कोई व्यक्ति हस्त-घड़ी धारण करता है, तो यह निश्चित है कि उसका निर्माण किसी कारखाने में हुआ होगा; उसका कोई निर्माता, सञ्चालक एवं कर्ता अवश्य होगा। यह सृष्टि का नियम है कि यदि कोई 'कार्य' दृष्टिगोचर है, तो उसका 'कारक' (कारण) भी विद्यमान है। यदि कोई घटना घटित हुई है, तो उसे घटित करने वाली कोई सत्ता अवश्य है।

- **ब्रह्माण्ड की ऊर्जा और ईश्वरीय व्यवस्था-**

श्रीभगवान् स्पष्ट करते हैं कि उस परम तत्त्व से ही यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकाशित हो रहा है और वहीं से समस्त व्यवस्थाएँ सञ्चालित की जा रही हैं। किसी जीव के जन्म लेते ही उसके पोषण (दुग्ध) की व्यवस्था पूर्व निर्धारित होती है; यही कारण है कि

कोई भी मानवेतर (मानव से भिन्न) जीव आगामी कल की चिन्ता नहीं करता। केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो भविष्य की चिन्ता में इतना संलग्न रहता है कि **यही 'चिन्ता' उसे 'चिता' की ओर अग्रसर कर देती है।**

- **स्वयं की खोज- कोऽहम् और सोऽहम्-**

अतः मनुष्य को 'चिन्ता' का परित्याग कर 'चिन्तन' का आश्रय लेना चाहिए। हमें यह आत्म-मन्थन करना चाहिए कि वास्तव में हमारा स्वरूप क्या है? हम कौन हैं? हमारे मनीषियों ने सदैव इस मौलिक प्रश्न पर बल दिया है— **"कोऽहम्"** (मैं कौन हूँ?)। जब श्वासों के साथ यह जिज्ञासा गूँजती है, तब अन्तःकरण से ही उत्तर ध्वनित होता है— **"सोऽहम्"** (मैं वही हूँ)। मैं वह परम तत्त्व हूँ, जो शरीर, नेत्र, कर्ण अथवा घ्राण (नासिका) जैसे भौतिक अवयवों से परे है। मैं वह आत्मतत्त्व हूँ, जिसकी शक्ति इस सम्पूर्ण धरा को धारण किए हुए है।

15.13

गामाविश्य च भूतानि, धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः(स्) सर्वाः(स्), सोमो भूत्वा रसात्मकः।।13।।

मैं ही पृथ्वी में प्रविष्ट होकर अपनी शक्ति से समस्त प्राणियों को धारण करता हूँ और (मैं ही) रस स्वरूप चन्द्रमा होकर समस्त ओषधियों (वनस्पतियों) को पुष्ट करता हूँ।

विवेचन- वह परमात्म तत्त्व ही पृथ्वी तल पर अपनी शक्ति से समस्त चराचर को धारण करता है। वह रस रूप अमृतमय चन्द्रमा के रूप में समस्त वनस्पतियों का पोषण करता है। जो कुछ व्यष्टि (पिण्ड) में विद्यमान है, वही समष्टि (ब्रह्माण्ड) में भी दृष्टिगोचर होता है।

- **नासिका, नाड़ी और मस्तिष्क का विज्ञान-**

मानव शरीर में नासिका के दो छिद्रों का अपना विशिष्ट महत्त्व है। सूक्ष्म निरीक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि एक समय में किसी एक ही नासिका छिद्र से वायु का प्रवाह अधिक सघन होता है। दक्षिण नासिका को 'सूर्य नाड़ी' एवं वाम नासिका को 'चन्द्र नाड़ी' के रूप में संज्ञापित किया जाता है। ये क्रमशः सूर्य एवं चन्द्रमा के प्रभाव से परिचालित होती हैं। यह एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसमें एक निश्चित समय के उपरान्त एक नाड़ी का प्रभाव दूसरी नाड़ी में स्थानान्तरित हो जाता है।

- **शिक्षा में योग और मस्तिष्क का सन्तुलन-**

शैक्षणिक परिवेश में यह देखा गया है कि जब कोई विद्यार्थी किसी विशिष्ट विषय, यथा गणित आदि में अरुचि प्रदर्शित करता है, तो इसका सम्बन्ध उसके मस्तिष्क की क्रियाशीलता से होता है। यदि विद्यार्थी का वाम मस्तिष्क (तार्किक पक्ष) निष्क्रिय हो और दक्षिण मस्तिष्क (सृजनात्मक पक्ष) सक्रिय हो, तो उसकी प्रवृत्ति चित्रकला जैसी सृजनात्मक गतिविधियों की ओर अधिक होती है।

मस्तिष्क की इस क्रियाशीलता का सीधा सम्बन्ध नासिका के श्वसन प्रवाह से है। यदि दक्षिण नासिका से श्वसन अधिक है, तो वाम मस्तिष्क सक्रिय होता है, जो गणितीय एवं तार्किक कार्यों के लिए उपयुक्त स्थिति है। इसके विपरीत, वाम नासिका के सक्रिय होने पर दक्षिण मस्तिष्क कार्य करता है, जिससे कलात्मक प्रवृत्तियाँ जागृत होती हैं। अतः बालक की शैक्षिक अरुचि उसके मस्तिष्क की तात्कालिक क्रियात्मक अवस्था पर निर्भर करती है।

- **प्राणायाम और सन्ध्या काल का महत्त्व-**

योग शास्त्र में ऐसी विधियाँ वर्णित हैं जिनसे दोनों नासिकाओं को एक साथ सक्रिय किया जा सकता है। कपालभाति जैसी शोधन क्रियाओं द्वारा श्वसन मार्ग का परिमार्जन (शुद्ध करना) किया जाता है। इसके उपरान्त नाड़ी शोधन एवं नाड़ी भेदन जैसे मूलभूत प्राणायामों का अभ्यास किया जाता है। इसमें ऊँकार का दीर्घ उच्चारण तथा कुम्भक (श्वास को रोकना) का अभ्यास सम्मिलित

है। श्वास को आन्तरिक रूप से रोकना 'अन्तः कुम्भक' तथा बाह्य रूप से रोकना 'बाह्य कुम्भक' कहलाता है।

वायु को फेफड़ों तक पूर्णतः ग्रहण करना 'पूरक' तथा उसे मन्द गति से त्यागना 'रेचक' कहलाता है। इन क्रियाओं के साथ अनुलोम-विलोम, भ्रामरी एवं भस्त्रिका के अभ्यास से दोनों नासिकाएँ एक साथ क्रियाशील हो जाती हैं।

भारतीय परम्परा में 'त्रिकाल सन्ध्या' का विधान इसीलिए किया गया है। सन्धिकाल (सूर्योदय, सूर्यास्त एवं मध्याह्न) में ब्रह्माण्डीय प्रभाव के कारण दोनों नासिकाएँ स्वतः ही सक्रिय हो जाती हैं। यदि इस समय प्राणायाम किया जाए, तो आगामी पाँच घण्टों तक दोनों मस्तिष्क सन्तुलित रूप से कार्य करते हैं। सन्ध्या वन्दन के पूर्व आचमन की प्रक्रिया कण्ठ को आर्द्र करती है, जिससे श्वसन क्रिया एवं मन्त्रो में में सुगमता बनी रहती है।

- **प्रज्ञा संवर्धन और प्राणायाम का महत्त्व-**

शैक्षणिक संस्थाओं में किए गए प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि प्राणायाम के माध्यम से विद्यार्थियों के परीक्षा परिणामों में दस दशमलव तैंतीस प्रतिशत (१०.३३%) तक की वृद्धि सम्भव है। जब मस्तिष्क के दोनों भाग एक साथ सक्रिय होते हैं, तो विषय की ग्रहणशीलता, आंकलन क्षमता एवं स्मरण शक्ति में गुणात्मक सुधार होता है।

सूर्य एवं चन्द्र नाड़ी के इस सन्तुलन आधारित प्रयोग को स्वामी जी ने **'प्रज्ञा संवर्धन'** की संज्ञा दी है। गीता परिवार के निष्ठावान कार्यकर्ता स्वर्गीय श्री सुरेश जी जाधव द्वारा प्रतिपादित, ये प्राणायाम विधियाँ वर्तमान में अनेक विद्यालयों के पाठ्यक्रम का अंश हैं। प्रातःकाल केवल बारह मिनट का नियमित प्राणायाम बोर्ड परीक्षाओं के परिणामों को उत्कृष्ट बनाने में सक्षम है।

- **हमारी विरासत और ईश्वरीय शक्ति-**

आधुनिकता के प्रवाह में हम अपनी इस अमूल्य विरासत को विस्मृत करते जा रहे हैं। श्रीभगवान् ने स्पष्ट किया है कि वे अपनी ओजस्वी शक्ति से पृथ्वी को धारण करते हैं और सोम (चन्द्र) के रूप में वनस्पतियों का पोषण करते हैं। ये समस्त जैविक एवं ब्रह्माण्डीय क्रियाएँ उसी ईश्वरीय सत्ता द्वारा क्रियाशील होती हैं।

15.14

अहं(वँ) वैश्वानरो भूत्वा, प्राणिनां(न्) देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः(फ्), पचाम्यन्नं(ञ्) चतुर्विधम्॥15.14॥

प्राणियों के शरीर में रहने वाला मैं प्राण-अपान से युक्त वैश्वानर (जठराग्नि) होकर चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।

विवेचन -

- **जठराग्नि और पञ्चप्राण-**

मानव उदर में स्थित अग्नि को 'जठराग्नि' अथवा 'वैश्वानर' के रूप में संज्ञापित (जाना जाता है) किया जाता है, जो श्वासोच्छ्वास (श्वसन) की प्रक्रिया द्वारा सञ्चालित होती है। भारतीय ऋषि-मुनियों ने प्राण शक्ति के गहन वैज्ञानिक पक्षों का उद्घाटन करते हुए पञ्चप्राणों (प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान) का सूक्ष्म विवेचन किया है। उन्होंने शरीर के विभिन्न अङ्गों में इन वायुओं के विशिष्ट अधिष्ठान, उनकी गति एवं जैविक कार्यों, यथा पलकों का झपकना, अन्न का पाचन तथा आन्तरिक सञ्चलन का सूक्ष्मता से अन्वेषण किया है।

- **अग्नि के विविध रूप और नचिकेता अग्नि-**

मानव देह में अग्नि की उपस्थिति अनिवार्य है, जिसका एक रूप जठराग्नि है। इसी सन्दर्भ में भीमसेन को 'वृकोदर' कहा गया है, जिनके उदर में 'वृक' नामक प्रबल अग्नि विद्यमान थी। कठोपनिषद् के अनुसार, यमराज ने नचिकेता की जिज्ञासा से प्रसन्न

होकर उसे जिस विशिष्ट अग्नि विद्या का उपदेश दिया, वह **'नचिकेता अग्नि'** के नाम से विख्यात हुई। परम्परागत रूप से, यह वह पवित्र अग्नि है, जिसे भोजन अर्पण (**वैश्वानर भोग**) के समय कृतज्ञता स्वरूप प्रदीप्त किया जाता है। आध्यात्मिक मान्यतानुसार, मृत्यु के उपरान्त पार्थिव देह के साथ जो अग्नि ले जाई जाती है, वह नचिकेता अग्नि ही है, जो जीव की यमलोक की यात्रा का आधार बनती है।

- **ईश्वर का सर्वव्यापी स्वरूप-**

श्रीभगवान् के अनुसार, समस्त अग्नियों को सञ्चालन एवं अन्न पाचन की ऊर्जा उन्हीं की ईश्वरीय शक्ति का प्रतिरूप है। वह सर्वव्यापी तत्त्व भिन्न-भिन्न माध्यमों से विविध रूपों में अभिव्यक्त होता है। जिस प्रकार आकाश का गुण 'शब्द' विभिन्न वाद्यों के माध्यम से पृथक् सुरों में परिणत होता है और सूर्य का एक ही 'प्रकाश' तापन, प्रकाश व्यवस्था (विद्‌युत्), चिकित्सा (एक्स-रे) एवं विकिरण जैसे विविध प्रयोजनों में प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार एक ही परमात्मा समस्त चराचर में क्रियाशील है। जल के समान वह भी जिस पात्र अथवा परिस्थिति में समाहित होता है, वैसा ही स्वरूप धारण कर लेता है।

- **चतुर्विध अन्न-**

अन्न पाचन की प्रक्रिया को श्रीभगवान् ने चार श्रेणियों (चतुर्विधम्) में विभाजित किया है, जो मनुष्य के भोजन ग्रहण करने की विधियों पर आधारित हैं-
१. **चर्व्य-** चबाकर ग्रहण किया जाने वाला ठोस आहार (यथा- रोटी, चावल)।
२. **पेय-** घूँट-घूँट कर पीया जाने वाला तरल पदार्थ (यथा- जल, दुग्ध)।
३. **चोष्य-** चूसकर ग्रहण किया जाने वाला भोज्य (यथा- गन्ना)।
४. **लेह्य-** चाटकर ग्रहण किया जाने वाला पदार्थ (यथा- मधु)।

इन समस्त विधियों से ग्रहण किए गए आहार का पाचन अन्ततः उसी ईश्वरीय सत्ता द्वारा सम्पन्न होता है।

15.15

सर्वस्य चाहं(म्) हृदि सन्निविष्टो, मत्तः(स्) स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं(ञ्) च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।15।।

मैं ही सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ तथा मुझसे (ही) स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय आदि दोषों का नाश) होता है। सम्पूर्ण वेदों के द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ। वेदों के तत्त्व का निर्णय करने वाला और वेदों को जानने वाला भी मैं (ही हूँ)।

विवेचन-

- **हृदय में ईश्वर का वास**

श्रीभगवान् का उद्‌घोष है-

परमात्मा समस्त प्राणियों के अन्त:करण में निवास करते हैं। स्मृति, ज्ञान एवं विवेक (अपोहन) की उत्पत्ति का मूल स्रोत वही ईश्वरीय सत्ता है। वह न केवल समस्त वेदों द्वारा संवेद्य हैं, अपितु वेदान्त के रचयिता एवं वेदों के वास्तविक ज्ञाता भी वही हैं। यह भाव निरन्तर पुष्ट होना चाहिए कि श्रीभगवान् ही सर्वव्यापक हैं और चराचर में उन्हीं का स्वरूप विद्यमान है।

ईश्वरीय उपस्थिति का अनुभव-

अन्तर में स्थित रहकर उन्हीं की बागडोर पकड़े रहना चाहिए,
निपट निरङ्कुश चञ्चल मन को सावधान करते रहना चाहिए।

अन्तर्यामी को अन्तःस्थित देखकर मन सशङ्कित होवे,
पाप वासना उठते ही लज्जा से वह जल भुनकर नष्ट हो जाए।

अन्तर्यामी परमात्मा की उपस्थिति का संज्ञान मन को अनुशासित करता है। जब साधक यह अनुभव करता है कि ईश्वर भीतर ही प्रतिष्ठित हैं तो कुत्सित विचार एवं पाप वासनाएँ स्वतः ही लज्जावश लुप्त हो जाती हैं।

श्रवण एवं दर्शन की दिव्यता साधक के लिए बाह्य जगत् की प्रत्येक अनुभूति ईश्वरीय रूपान्तरण है-

जीवों का कलरव
जो दिन भर सुनने में मेरे आवे।
तेरा ही गुणगान जान
मन प्रमुदित हो अति सुख पावे।।
तू ही है सर्वत्र व्याप्त हरि,
तुझमें यह सारा संसार।
इसी भावना से अन्तर भर मिलूँ
सभी से तुझे निहार।।

कर्म का ईश्वरीय रूपान्तरण (मानस पूजा)

साधक की समस्त चेष्टाएँ और इन्द्रिय व्यवहार केवल ईश्वर की प्रसन्नता हेतु समर्पित होने चाहिए-

प्रतिपल निज इन्द्रिय समूह से,
जो कुछ भी आचार करूँ ।
केवल तुझे प्रसन्न करने को,
बस तेरा ही व्यवहार करूँ ।।

इस सन्दर्भ में आदि शङ्कराचार्य विरचित मानस पूजा का भाव भी यही है कि मनुष्य का चलना प्रदक्षिणा, शयन समाधि और वाणी स्तुति बन जाए-

"आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं,
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो,
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥"

(श्रीशिवपराधापराधक्षमापणस्तोत्रम्, ।।14।।)

विषयों के उपभोग का जो भी काम चल रहा है, मेरे द्वारा वह भी तेरी पूजा बन जाए। मेरी निद्रा तेरी समाधि बन जाए। मैं चलता हूँ तो मेरा सञ्चार तेरी प्रदक्षिणा बन जाए। मेरे सारे शब्द तेरे स्तोत्र बन जाए। मैं सारे जो काम कर रहा हूँ वे, हे शम्भू! तेरी ही आराधना बन जाए।

आदि शङ्कराचार्य जी ने यह मानस पूजा लिखी, यह एक अद्भुत मानस पूजा है।
इस प्रकार, प्रत्येक कर्म को आराधना मानकर साधक पुरुषोत्तम तत्त्व की ओर अग्रसर होता है।

15.16

द्वाविमौ पुरुषौ लोके, क्षरश्चाक्षर एव च।

क्षरः(स्) सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।16।।

इस संसार में क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी) – ये दो प्रकार के ही पुरुष हैं। सम्पूर्ण प्राणियों के शरीर क्षर और जीवात्मा अक्षर कहा जाता है।

विवेचन- दो प्रकार के पुरुष हैं, **"द्वाविमौ पुरुषौ लोके"**। कुछ क्षर हैं, कुछ अक्षर हैं। **क्षर** अर्थात् नाश होने वाले, **अक्षर** अर्थात् नाश नहीं होने वाले।

15.17

उत्तमः(फ्) पुरुषस्त्वन्यः(फ्), परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य, बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।17।।

उत्तम पुरुष तो अन्य (विलक्षण) ही है, जो 'परमात्मा'– इस नाम से कहा गया है। (वही) अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर (सबका) भरण-पोषण करता है।

विवेचन- इन दोनों से भी परे **'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः'**। इन दोनों से **पुरुषोत्तम** भिन्न है जो तीनों लोकों का भरण-पोषण करता है, वही अविनाशी परमेश्वर, वही परमात्मा है।

15.18

यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्, अक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च, प्रथितः(फ्) पुरुषोत्तमः।।18।।

कारण कि मैं क्षर से अतीत हूँ और अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसलिये लोक में और वेद में 'पुरुषोत्तम' (नाम से) प्रसिद्ध हूँ।

विवेचन- जो स्वयं को प्रकाशित करता है, जो अविनाशी है, जो क्षर और अक्षर से परे है, जो सर्वोत्तम है, उसे वेद एवं ज्ञानी **पुरुषोत्तम** के रूप में जानते हैं।

15.19

यो मामेवमसम्मूढो, जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां(म्),सर्वभावेन भारत।।19।।

हे भरतवंशी अर्जुन ! इस प्रकार जो मोह रहित मनुष्य मुझे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ सब प्रकार से मेरा ही भजन करता है।

विवेचन- जो ज्ञानी लोग हैं, **'यो मामेवमसम्मूढो'**, जो **अमूढ** लोग हैं (अमूढ अर्थात् ज्ञानी, मूढ अर्थात् अज्ञानी) वे इनको जानते हैं। वे पुरुषोत्तम रूप को जानते हैं और वे सभी प्रकार से उन्हीं को भजते हैं, अत्यन्तिक भाव से, मन से, समस्त भावनाओं के साथ में वे उन्हीं को भजने लग जाते हैं।

15.20

इति गुह्यतमं(म्) शास्त्रम्, इदमुक्तं(म्) मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्, कृतकृत्यश्च भारत।।20।।

हे निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया है। हे भरतवंशी अर्जुन ! इसको जानकर (मनुष्य) ज्ञानवान् (ज्ञात-ज्ञातव्य) (तथा प्राप्त-प्राप्तव्य) और कृतकृत्य हो जाता है

विवेचन- श्रीभगवान् ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए इस **गुह्यतम** ज्ञान का प्रतिपादन किया है। इस तत्त्वज्ञान का बोध होते ही साधक के जीवन में कृतकृत्यता का भाव जाग्रत होता है। श्रीमद्भगवद्गीता जी का अनुशीलन ही वास्तव में जीवन को कृतार्थ करने का मार्ग है। स्वामी जी के सान्निध्य एवं ईश्वरीय अनुग्रह से यह गूढ़ शास्त्र अब जनसाधारण हेतु सुगम एवं सुलभ हो गया है।

- **साधना पथ पर निरन्तरता-**

ईश्वरीय कृपा की प्राप्ति हेतु साधक की पात्रता (झोली) का अक्षुण्ण होना अनिवार्य है, अन्यथा प्राप्त ज्ञान एकत्रित नहीं हो पाता। अतः साधना मार्ग में सातत्य (पवित्रता) बनाए रखना आवश्यक है। पन्द्रहवें अध्याय की पूर्णता के उपरान्त, ज्ञान के गम्भीर स्तरों को समझने हेतु द्वितीय सोपान (सेकण्ड लेवल) में प्रवेश करना श्रेयस्कर है। आगामी सत्रों में सोलहवें अध्याय के पठन एवं कण्ठस्थीकरण का प्रयास करना चाहिए। यदि कण्ठस्थीकरण सम्भव न हो, तब भी जिज्ञासु भाव से अर्थ बोध का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

- **स्वाध्याय एवं डिजिटल माध्यमों का उपयोग-**

विषय की स्पष्टता हेतु निरन्तर विवेचन श्रवण करना अनिवार्य है। समय के अभाव में यदि कोई सत्र छूट जाए, तो आधुनिक तकनीकी माध्यमों (यथा- यूट्यूब एवं vivechan.learngeeta.com) का उपयोग कर स्वाध्याय की धारा को अक्षुण्ण रखा जा सकता है।

- **श्रीमद्भगवद्गीता- साक्षात् ईश्वरीय विग्रह-**

गीता जी का सात सौ श्लोकों का यह लघु ग्रन्थ साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण का वाङ्मय (शब्दरूपी) विग्रह है। गीता जी के प्रचार-प्रसार एवं उसके सिद्धान्तों को जीवन में आत्मसात् करना ही इसकी वास्तविक सेवा है।

- **कृतज्ञता ज्ञापन एवं समापन-**

जब कोई साधक श्रद्धापूर्वक पठन आरम्भ करता है, तो श्रीभगवान् स्वयं उसका मार्ग प्रशस्त करते हैं। इस सौभाग्य हेतु परमात्मा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करनी चाहिए-

"हे श्रीभगवान्! आपकी अहैतुकी कृपा से ही हम इस आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर हुए हैं। इस पथ पर सदैव बने रहने हेतु हमें आत्मबल एवं शक्ति प्रदान करें।"

इसी प्रार्थना के साथ इस अध्याय का विवेचन पूर्ण होता है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्नकर्ता- दर्शन भैया।
प्रश्न- पूर्ववर्ती विवेचन में हमारे समक्ष गणेश विसर्जन के सम्बन्ध में बेहद रोचक तथ्य प्रस्तुत किया गया था-
"विस्तार में सृजन का महत्व"

परन्तु एक विचार मन में बारम्बार उत्पन्न होता है कि जब हम एक बार भगवान् गणेश जी की मूर्ति का विसर्जन कर देते हैं, तब इस परम्परा की हमारे द्वारा की जाने वाली पुनरावृत्ति की क्या आवश्यकता है?
उत्तर- मानव को बेहद ही सुन्दर वरदान प्राप्त है, **"विस्मरण का"**। यदि यह वरदान मानव जाति को प्राप्त नहीं होता, तब मनुष्य जीवन दूभर हो जाता, परन्तु यह वरदान, जिसके कारण हम समस्त बुरी घटनाओं को तो विस्मरित कर ही देते हैं, इसके अतिरिक्त वे समस्त घटनाएँ जो सुखद तथा स्मरण योग्य होती हैं, उन्हें भी भूल जाते हैं।

इसे पुराने समय की घड़ियों द्वारा उचित प्रकार से समझा जा सकता है, उस समय में उपलब्ध घड़ियों में प्रत्येक सप्ताह चाबी भरनी

होती थी, अन्यथा घड़ी रुक जाती।

उसी प्रकार वर्ष में एक बार आने वाले गणपति के त्योहार को बेहद धूम-धाम से मनाया जाता है तथा प्रत्येक वर्ष उनका विसर्जन किया जाता है, यही है विस्तार में सृजन की परम्परा, जहाँ एक सप्ताह तक भगवान् गणेश की प्रतिमा का पूजन-अर्चन विधि-विधान सहित किया जाता है, जिससे उस प्रतिमा में दिव्यतम भगवत् तत्त्व का समावेश होता है तथा अन्त में गणेश जी की उस मूर्ति का विसर्जन कर दिया जाता है।

भगवान् गणेश जी की प्रतिमा के जल में विसर्जन के साथ ही वह दिव्यता, उसमें विराजमान भगवत् तत्त्व का भी जल में विसर्जन हो जाता है।भगवान् गणेश जी की प्रतिमा का जल में यह विसर्जन सम्पूर्ण जल को तथा सम्पूर्ण सृष्टि को भगवत् तत्त्व से युक्त कर देता है। इस सुन्दर घटना का स्मरण रखने हेतु इस दिव्यतम उत्सव की, गणेश उत्सव की पुनरावृत्ति आवश्यक है।

प्रश्न- प्राचीन समय से चली आ रही बलि की प्रथा क्या उचित है?, क्या वास्तव में श्रीभगवान् बलि देने से प्रसन्न होते हैं?
उत्तर- पुराणों में बलि प्रथा का वर्णन तो निश्चित ही मिलता है परन्तु इसकी धारणा को समझना यहाँ आवश्यक हो जाता है। बलि की यह प्रथा सामान्य जन हेतु तो कदापि नहीं थी। बलि की यह परम्परा क्षत्रियों को निर्वहन करनी होती थी।

इस प्रथा के पीछे एक बेहद विशेष कारण था; वह था कि जब क्षत्रिय किसी मनुष्य का वध करे तब उसके तड़पते, लगभग मृतप्राय देह को देख तथा बहते हुए रक्त को देख, उसका मन विचलित न हो। क्षत्रियों के हृदय में कठोरता को उत्पन्न करने के उद्देश्य से यह उपाय प्राचीन भारत में किए गए। जिसने कालान्तर में प्रथा का रूप ले लिया।

चूँकि क्षत्रियों को राष्ट्र के रक्षार्थ युद्ध लड़ने होते थे तथा अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने हेतु उनका वध भी करना होता था, अत: अधर्मियों, राष्ट्रद्रोहियों का वध करते हुए उनके हृदय में, शोक या भय जैसे भाव उत्पन्न न हों इसलिए यह प्रथा चलन में लाई गई। गृहस्थों हेतु यह प्रथा कदापि नहीं है। यह प्रथा मात्र उन्हीं हेतु है, जिनका युद्ध लड़ना धर्म है। गृहस्थों को तो सदैव अहिंसा के मार्ग पर ही अग्रसर होना चाहिए।

श्रीभगवान् ने भी श्रीमद्भगवद्गीता जी में अनेक स्थानों पर अहिंसा को उल्लेखित किया है। उन्होंने अहिंसा को दैवीय गुणों में समाहित किया है जबकि श्रीमद्भगवद्गीता जी का मूल उद्देश्य अर्जुन को उनके धर्म पथ पर प्रशस्त करना था, अर्थात् श्रीभगवान् द्वारा अर्जुन को दिया गया यह अद्भुत एवं दिव्य ज्ञान उन्हें हिंसा करने हेतु प्रेरित करने के लिए था।

यहाँ हिंसा एवं अहिंसा को समझना आवश्यक है।

अहिंसा परमोधर्म:।।

वास्तव में अहिंसा हमारा परम धर्म है, परन्तु निरपराधियों पर हिंसा करने वाले पर हिंसा करना अपराध नहीं, हिंसा नहीं अपितु अहिंसा ही है, क्योंकि ऐसा करने वाला व्यक्ति, उस हिंसक जीव सदृश्य व्यक्ति से अनेकों निर्दोषों के प्राणों की रक्षा करता है।

कसाब नामक आतङ्की को न्यायाधीश द्वारा मृत्युदण्ड दिया जाना वास्तव में अहिंसा ही है क्योंकि ऐसे हिंसक आचरण से युक्त व्यक्ति यदि स्वतन्त्र हो जाए, तब वह अनेकों निर्दोषों हेतु घातक सिद्ध होता।

बिना बैर भाव से रहित हो, अपने कर्त्तव्य का निर्वहन करने हेतु की गई हिंसा अहिंसा की ही श्रेणी में आती है, जैसे हमारे राष्ट्र के सैनिकों द्वारा राष्ट्र के रक्षार्थ की गई हिंसा।

।।ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(यँ) योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्याय:॥

इस प्रकार ॐ तत् सत् - इन भगवन्नामों के उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में 'पुरूषोत्तमयोग' नामक पन्द्रहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

हमें विश्वास है कि आपको विवेचन की रचना पढ़कर अच्छा लगा होगा। कृपया नीचे दिए लिंक का उपयोग करके हमें अपनी प्रतिक्रिया दीजिए।

https://vivechan.learngeeta.com/feedback/

विवेचन-सार आपने पढ़ा, धन्यवाद!
हम सब गीता सेवी, अनन्य भाव से प्रयास करते हैं कि विवेचन के अंश आप तक शुद्ध वर्तनी में पहुंचे। इसके बाद भी वर्तनी या भाषा संबंधी किन्हीं त्रुटियों के लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

जय श्री कृष्ण !
संकलन: गीता परिवार - रचनात्मक लेखन विभाग

हर घर गीता, हर कर गीता!
Let's come together with the motto of Geeta Pariwar, and gift our Geeta Classes to all our Family, friends & acquaintances

https://gift.learngeeta.com/

गीता परिवार ने एक नवीन पहल की है। अब आप पूर्व में सञ्चालित हुए सभी विवेचनों कि यूट्यूब विडियो एवं पीडीऍफ़ को देख एवं पढ़ सकते हैं। कृपया नीचे दी गयी लिंक का उपयोग करे।

https://vivechan.learngeeta.com/

|| गीता पढ़े, पढ़ायें, जीवन में लाये ||
||ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ||